प्रश्न: आदिकाल की प्रवृत्तियों / विशेषताओं का उल्लेख करें।

उत्तर: आदिकालीन साहित्य कथ्य, भाषा एवं शिल्प की दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न है। उसमें चार प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं:-

1. सिद्धों, नाथों तथा जैन मुनियों की उपदेशात्मक धार्मिक रचनाएँ।
2. लौकिक रस से अनुप्राणित रचनाएँ (संदेशरासक, बीसलदेव रासो)
3. फुटकल विविध विषयों की कविताएँ
4. वीर रस से अनुप्राणित चारण चरित काव्य

इस काल में मुख्यत: तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं:

I धार्मिक
II वीरगाथात्मक
III शृंगारिक

शुक्ल जी ने आदिकाल की धार्मिक रचनाओं का उल्लेख तो किया है, पर उनमें उन्हें 'अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति' के दर्शन हुए हैं। उन्होंने लिखा है: "आदिकाल के भीतर वज्रयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों की परम्पराओं का कुछ विस्तार के साथ वर्णन यह दिखलाने के लिए करना पड़ा कि कबीर प्रवर्तित निर्गुण संतमत के प्रचार के लिए किस प्रकार उन्होंने पहले से रास्ता तैयार कर दिया था। दूसरा उद्देश्य यह स्पष्ट करने का भी था कि सिद्धों एवं योगियों की रचनाएँ साहित्य-कोटि में नहीं आतीं और योगधारा काव्य की कोई धारा नहीं मानी जा सकती।" शुक्ल जी योगधारा को साहित्येतर प्रवृत्ति मानते थे। वे यह भूल गए कि इसी योगधारा में लोक चेतना की स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई। दूसरी बात, जिन रचनाओं को शुक्ल जी साहित्यिक मानते हैं, वे अप्रामाणिक या संदिग्ध रचनाएँ हैं। नामवर सिंह जी ने शुक्लजी के मत का खण्डन करते हुए कहा है: "जो रचनाएँ साहित्यिक हैं, वे संदिग्ध हैं और जो असंदिग्ध हैं वे असाहित्यिक हैं। साहित्यिकता और असंदिग्धता के इस विरोध में इतिहासकार को असंदिग्धता का ही पक्ष लेना पड़ेगा क्योंकि विचार से तथ्य प्रबल होता है।" साथ ही यह भी सही है कि साहित्यिकता को जाँचने-परखने की क्रिया विषयनिष्ठ (Subjective) प्रक्रिया है। एक ही रचना किसी की नजर में साहित्यिक हो सकती है तो किसी दूसरे की नजर में असाहित्यिक।

बौद्धों, नाथों, सिद्धों आदि की रचनाएँ हिन्दू धर्म की रूढ़िग्रस्त धर्म भावना से मनुष्य को मुक्त कर सहज सत्य का साक्षात्कार करा रही थीं। ये लोक चेतना से जुड़ी हैं। जनता की आशाएँ-आकांक्षाएँ,

Scanned with CamScanner

उनका दुःखदर्द, उनका असंतोष, उनकी चिंताएँ इन्हीं रचनाओं के जरिए सामने आ रही थीं। वैसे यह सही है कि उनकी भावनाओं पर लोकजीवन के अंधविश्वासों, टोना-टोटका आदि प्रथाओं की छाप है, फिर भी उन सब के बीच से उनके दुःख-दर्द, विश्वास तथा कभी-कभी कल्पना-लोक में आनन्द प्राप्त करने की आकांक्षा उनमें प्रकट होती है। दरबारों में रचे गए परिमार्जित और अलंकृत काव्यों की तुलना में ये ग्रामीण काव्य अनगढ़, कच्चे और सीधे-सादे लग सकते हैं, लेकिन इनमें सत्य की सम्भावना अधिक है। डा० नामवर सिंह तो शुक्ल जी की स्थापना के विरोध में धार्मिक प्रवृत्ति को ही इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति मानते हैं। उनका कहना है: "हिन्दी साहित्य के आदिकाल में प्रवृत्तियों की अराजकता नहीं थी, उसमें बेतरतीब उगी हुई प्रवृत्तियों की व्यवस्था यह थी कि दो स्पष्ट विरोधी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं। एक प्रवृत्ति वह थी जो क्रमशः क्षीयमान थी, दूसरी वह थी जो क्रमशः वर्धमान थी। पहली का संबंध राजस्तुति, सामंतों के चरित्र-वर्णन, युद्ध-वर्णन, केलि-विलास, वर-विवाह के लिए विजयोन्माद आदि से था और दूसरी का संबंध नीची समझी जाने वाली जातियों के धार्मिक असंतोष, रूढ़ि-विरोध, बाह्याडंबर-खण्डन, जाति-भेद की आलोचना, उच्चतर आचार, व्यापक भगवत् प्रेम, मानवीय आत्म-गौरव आदि से था। एक का नाम तथाकथित वीरगाथा काव्य है और दूसरी का तथाकथित योगधारा।" जाहिर है कि योगधारा को नामवर जी वर्धमान एवं विकसनशील प्रवृत्ति मानते हैं।

शुक्ल जी की दृष्टि में इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति वीरगाथात्मक है। पर, जिन रासो ग्रंथों के आधार पर उन्होंने वीरगाथात्मकता को प्रमुख प्रवृत्ति माना था, उनमें से अधिकांश अप्रामाणिक हैं। दूसरी बात इस काल की वीर-भावना अत्यंत संकुचित और संकीर्ण थी। उसमें वीर रस के उदात्त रूप के दर्शन नहीं होते। आश्रयदाताओं की उचित-अनुचित प्रशंसा करना कविगण अपना कर्तव्य मानते थे। उनमें राष्ट्र के व्यापक हित की चिंता दिखाई नहीं देती। बस कहीं-कहीं रासो काव्यों में सामंतों के शौर्य का सुन्दर प्रदर्शन हुआ है। कवियों ने राजाओं की दर्पोक्तियों का जो अंकन किया है, उनमें नवीनता है। जगनिक, चन्दबरदायी

आदि की वीर रस से पूर्ण कविता में जनता के चित्त को ओज से भरने की पर्याप्त शक्ति थी, फिर भी इस काल के अधिकांश चरित काव्यों में युद्ध, विवाह आदि के परम्परागत वर्णन कहीं-कहीं परिपाटी के अनुपालन-से भी लगते हैं। रूढ़ियों एवं परिपाटियों के अत्यधिक समावेश के कारण इन चरित काव्यों में नवीनता कम, प्राचीन निपुणता का संचय अधिक दिखाई पड़ता है। एक अन्य उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इन काव्यों की विषय-वस्तु का सम्बन्ध किसी एक राजा से ही नहीं, बल्कि कई-कई राजाओं के चरित तथा प्रशंसा से है। फलतः इनका आकार रचनाकारों की मृत्यु के पश्चात भी बढ़ता रहा है। रासो काव्यों को देखने से पता चलता है कि उनके रचयिता जिस राजा के चरित का वर्णन करते थे, उसके उत्तराधिकारी राजागण अपने आश्रित अन्य कवियों से उसमें अपने चरित भी सम्मिलित करा देते थे। इसलिए ये काव्य वंश-कथा से लगते हैं तथा इनकी भाषा में भिन्न-भिन्न शताब्दियों की भाषाओं के नमूने मिलते हैं। इससे इतना तो स्पष्ट है कि ये तथाकथित वीरगाथाकाल की प्रामाणिक नहीं हैं। साथ ही ऐसी वीरगाथाएँ सामान्य जनता की अभिलाषाओं को निरूपित नहीं कर रही थीं। यदि जनता राजा की जय-पराजय से उदासीन है तो राजा को केन्द्र में रखकर रचा गया साहित्य जनता का साहित्य नहीं कहा जा सकता। इनमें सामान्य जनता उपेक्षित ही रह गई है।

वीरगाथा काव्य शुद्ध वीर रस के काव्य न थे उनमें शृंगार का पर्याप्त मिश्रण था। वैसे तो आचार्य शुक्ल ने शृंगार को वीरगाथाकाल की गौण प्रवृत्ति माना है, पर वे स्वीकार करते हैं कि "जहाँ राजनीतिक कारणों से भी युद्ध होता था, वहाँ भी उन कारणों का उल्लेख न कर कोई रूपवती स्त्री ही कारण कल्पित करके रचना की जाती थी।" शुक्ल जी की यह बात सही हो तो मानना पड़ेगा कि वीरगाथा काव्यों की मूल प्रेरणा भोग-विलास की कामना ही थी। 'बीसलदेव रासो' में तो शौर्य के वर्णन के बदले शृंगार की अधिकता है। इसके अलावा आदिकाल में स्वतंत्र ऐसी प्रेमपरक रचनाएँ लिखी गईं जिन्हें राजाश्रय से मुक्त कवियों ने लिखा था। 'संदेशरासक' ऐसी ही रचना है। इसमें हृदय की सच्ची प्रेम भावनाओं की

Scanned with CamScanner

अभिव्यक्ति हुई है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "रासो में घर के बाहर का वातावरण प्रमुख है और 'संदेशरासक' में भीतर का। 'रासो' नये-नये प्रेम का रोमांस प्रस्तुत करता है और 'संदेशरासक' पुरानी प्रीति को निखार देता है।" यह एक विरह काव्य है। इसी तरह 'बीसलदेव रासो' भी एक विरह काव्य है। शृंगार की दृष्टि से दोनों की भावधाराएँ समान हैं। इनमें नारी के सहज शृंगार से लेकर उसके मानसिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति इन काव्यों की उपलब्धि है। नखशिख वर्णन, विरह के विभिन्न रूप, विरहिणी नायिका द्वारा प्रियतम के पास संदेश प्रेषण, स्वकीया और परकीया प्रेम की सीमाएँ— ये सब आदिकाल के रूप में अन्तर्निहित हैं।

विद्यापति ने 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' में इतिहास पुरुषों की वीरगाथाएँ ही लिखी हैं, पर विद्यापति की 'पदावली' जिसे आचार्य शुक्ल ने फुटकल खाते में रखा है, में भक्ति एवं शृंगार के अनूठे उदाहरण मिलते हैं। अपने इतिहास में आचार्य शुक्ल ने विद्यापति को शृंगारी कवि कहा है, जबकि केशव प्रसाद मिश्र उन्हें भक्त कवि मानते थे। कायदे से हम देखें तो विद्यापति में हमें आदिकाल की तीनों प्रमुख प्रवृत्तियाँ विद्यमान मिलती हैं - 'कीर्तिलता' एवं 'कीर्तिपताका' में वीररसात्मकता एवं 'पदावली' में शृंगार एवं भक्ति। 'पदावली' में पहली बार राधा एवं कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों को गेय रूप में प्रस्तुत किया गया है।

अमीर खुसरो की पहेलियों में मनोरंजन एवं जीवन पर गहरे व्यंग्य एकसाथ मिलते हैं। इनकी रचनाएँ लौकिक साहित्य के अन्तर्गत ही आती हैं। इसके अलावा 'ढोला मारू रा दुहा', 'वसन्त विलास', 'जयचंद प्रकाश' आदि रचनाएँ भी लौकिक साहित्य को गरिमा प्रदान करती हैं। इनमें स्वच्छन्द रूप से शृंगार का निरूपण किया गया है।

आदिकाल की भाषा अपभ्रंश से तुरत-तुरत निकली हुई देशभाषा है। एक ही काल रचनाकारों में कोई अपभ्रंश में लिख रहा था, तो देशभाषा में, कोई-कोई अपभ्रंश एवं देशभाषा दोनों में रचना कर रहा था। उदाहरण के लिए शाङ्गधर अपभ्रंश में लिख रहे थे तो खुसरो देशभाषा

Scanned with CamScanner

एक ही कवि विद्यापति एक ओर अवहट्ठ का प्रयोग कर रहे थे तो दूसरी ओर 'देसिल बयना' का। आदिकालीन साहित्य की भाषा कठिनता से सरलता की ओर जाती हुई भी एक व्यापक रूप ग्रहण करने की ओर बढ़ रही थी। सिद्धों की जीवन दृष्टि तथा स्पष्टवादिता, नाथपंथियों का हठयोग, जैनों की अहिंसा, चारणों भाटों की प्रशस्तियों, खुसरो की लोकरसज्ञता – यह भाषा सबको एक साथ अभिव्यक्त करने में समर्थ है। अलंकार, रस, छंद लक्षण- व्यंजना आदि का अतिरिक्त आग्रह इसमें नहीं है।

आदिकालीन रासो काव्यों में वीर रस की व्यंजना के लिए छप्पय, तोटक, तोमर, पद्धरि और नाराच का प्रयोग अधिक किया गया है। इनमें से कुछ छंद अपभ्रंश में भी प्रयुक्त हो रहे थे। आल्ह छंद आदिकाल में काफी लोकप्रिय था। जगनिक ने 'परमाल रासो' में इसे अपनाकर एक विशेष शैली के रूप में ढाला है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने दोहे को अपभ्रंश का मुख्य छंद स्वीकार किया है, पर दोहा छंद अपभ्रंश में जनभाषा से ही गया था, इसलिए इस छंद को हिन्दी का मुख्य छंद मानना चाहिए। इनके अलावा पज्झटिका, अरिल्ल, चौपाई आदि छंद भी इस काल में प्रचलित थे।

आदिकाल के ग्रंथों में कथानक रूढ़ियों का विशेष प्रयोग मिलता है। शुक, दूती, दैवी शक्तियाँ आदि इन रूढ़ियों के साधन रहे हैं। ये रूढ़ियाँ अपभ्रंश साहित्य में भी मिलती हैं। शुक का दौत्य कार्य, नायिका को अप्सरा का अवतार कहना, फल द्वारा संतान की उत्पत्ति, लिंग परिवर्तन आदि बातें अनैतिहासिकता द्योतक नहीं, बल्कि कथानक रूढ़ि के निर्वाह की सूचक हैं। 'पृथ्वीराज रासो' ऐसी रूढ़ियों का कोश है। संवाद-शैली की रूढ़ि भी इस काल में प्रचलित थी, जिसे आगे चलकर तुलसी जैसे महाकवि ने भी अपनाया।

आदिकाल की दो अन्य महत्त्वपूर्ण शैलियों के नाम हैं – डिंगल तथा पिंगल। वीर रस की रचनाओं में डिंगल शैली का प्रयोग होता था। इनमें हिन्दी बोलियों के कर्कश शब्दों की भरमार थी। पिंगल शैली में कोमल भावों को प्रकट किया जाता था।

Scanned with CamScanner

इनमें कवि कोमल शब्दावलियों का प्रयोग करता था। डिंगल की कर्कश शब्दावली सीमित थी, अतः इस शैली के साहित्य का अधिक विस्तार न हो सका। इसके मुकाबले पिंगल शैली लोकप्रिय होती चली गई। कुछलोग भ्रमवश डिंगल को राजस्थानी भाषा का पर्याय मानते हैं। दरअसल, डिंगल भाषा नहीं, बल्कि भाषा की एक शैली है।